

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में निहित अनेकान्त

अनेकान्तवाद को मुख्यतः जैनदर्शन का पर्याय माना जाता है। यह कथन सत्य भी है, क्योंकि अन्य दार्शनिकों ने उसका खण्डन मुख्यतः उसके इसी सिद्धान्त के आधार पर किया है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि अनेकान्तवाद का विकास और तार्किक आधारों पर उसकी पुष्टि जैन दार्शनिकों ने की है। अतः अनेकान्तवाद को जैन दर्शन का पर्याय मानना समुचित भी है; किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि अन्य भारतीय दर्शनों में इसका पूर्णतः अभाव है। सत्ता सम्बन्ध में अनेकान्त एक अनुभूत सत्य है और अनुभूत सत्य को स्वीकार करना ही होता है। विवाद या मत-वैभिन्य अनुभूति के आधार पर नहीं, उसकी अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सहारा लेना होता है, किन्तु भाषायी अभिव्यक्ति अपूर्ण-सीमित और सापेक्ष होती है अतः उसमें मतभेद होता है और उन मतभेदों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करने या उन परस्पर विरोधी कथनों के बीच समन्वय लाने के प्रयास में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है। वस्तुतः अनेकान्तवाद या अनेकान्तिक दृष्टिकोण का विकास निम्न तीन आधारों पर होता है—

१. बहु-आयामी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में ऐकान्तिक विचारों या कथनों का निषेध।

२. भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के आधार पर बहु-आयामी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत विरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता की स्वीकृति।

३. परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली विचार-धाराओं को समन्वित करने का प्रयास।

वेदों में प्रस्तुत अनेकान्त दृष्टि

प्रस्तुत आलेख में हमारा प्रयोजन उक्त अवधारणाओं के आधार पर जैनैतर भारतीय चिन्तन में अनैकान्तिक दृष्टिकोण कहाँ-कहाँ किस रूप में उल्लेखित है इसका दिग्दर्शन कराना है।

भारतीय साहित्य में वेद प्राचीनतम है। उनमें भी ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। ऋग्वेद न केवल परमतत्त्व के सत् और असत् पक्षों को स्वीकार करता है अपितु इनके मध्य समन्वय भी करता है। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त (१०/१२९/१) में परमतत्त्व के सत् या असत् होने के सम्बन्ध में न केवल जिज्ञासा प्रस्तुत की गई

अपितु ऋषि ने यह भी कह दिया कि परम सत्ता को हम न सत् कह सकते हैं और न असत्। इस प्रकार वस्तुतत्त्व की बहु-आयामिता और उसमें अपेक्षा भेद से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों की युगपद् उपस्थिति की स्वीकृति हमें वेद काल से ही मिलने लगती है। मात्र इतना ही नहीं ऋग्वेद का यह कथन—“**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्यग्निं** (१/१६४/४६)” परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उनमें समन्वय करने का प्रयास ही तो है। इस प्रकार हमें अनेकान्तिक दृष्टि के अस्तित्व के प्रमाण ऋग्वेद के काल से ही मिलने लगते हैं। यह बात न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा अनेकान्तिक दार्शनिक दृष्टि की स्वीकृति की सूचक है अपितु इस सिद्धान्त की त्रैकालिक सत्यता और प्राचीनता की भी सूचक है। चाहे विद्वानों की दृष्टि में सप्तभंगी का विकास एक परवर्ती घटना हो, किन्तु अनेकान्त तो उतना ही पुराना है जितना ऋग्वेद का यह अंश। ऋग्वैदिक ऋषियों के समक्ष सत्ता या परमतत्त्व के बहु-आयामी होने का पृष्ठ खुला हुआ था और यही कारण है कि वे किसी ऐकान्तिक दृष्टि में आबद्ध होना नहीं चाहते थे। ऋग्वेद के दशम मण्डल का नासदीय सूक्त (१०/१२९/१) इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण है—

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योम परीयत् ।

सत्य तो यह है कि उस परमसत्ता को जो समस्त अस्तित्व के मूल में है, सत्, असत्, उभय या अनुभय – किसी एक कोटि में आबद्ध करके नहीं कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में उसके सम्बन्ध में जो भी कथन किया जा सकेगा वह भाषा की सीमितता के कारण सापेक्ष ही होगा (निरपेक्ष नहीं) यही कारण है कि वैदिक ऋषि उस परमसत्ता या वस्तु तत्त्व को सत् या असत् नहीं कहना चाहता है, किन्तु प्रकारान्तर से वे उसे सत् भी कहते हैं— यथा— **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्यग्निं** (१/१६४/४६) और असत् भी कहते हैं यथा— **देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत** (१०/७२/३)। इससे यही फलित होता है कि वैदिक ऋषि अनाग्रही अनेकान्त दृष्टि के ही सम्पोषक रहे हैं।

औपनिषदिक साहित्य और अनेकान्तवाद

न केवल वेदों में, अपितु उपनिषदों में भी इस अनेकान्तिक दृष्टि के उल्लेख के अनेकों संकेत उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमसत्ता के बहुआयामी होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्मों की उपस्थिति के सन्दर्भ मिलते हैं। जब हम उपनिषदों में अनेकान्तिकदृष्टि के सन्दर्भों की खोज करते हैं तो उनमें हमें निम्न तीन प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं—

१. अलग-अलग सन्दर्भों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रस्तुतीकरण।
२. ऐकान्तिक विचारधाराओं का निषेध।
३. परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास।

सृष्टि का मूलतत्त्व सत् है या असत् - इस समस्या के सन्दर्भ में हमें उपनिषदों में दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं के संकेत उपलब्ध होते हैं। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (२.७) में कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् ही था उसी से सत् उत्पन्न हुआ। इसी विचारधारा की पुष्टि **छान्दोग्योपनिषद्** (३/१९/१) से भी होती है। उसमें भी कहा गया है कि सर्वप्रथम असत् ही था उससे सत् हुआ और सत् से सृष्टि हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में असत् वादी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ, किन्तु इसी के विपरीत उसी **छान्दोग्योपनिषद्** (६/२/१, ३) में यह भी कहा गया कि पहले अकेला सत् ही था, दूसरा कुछ नहीं था, उसी से यह सृष्टि हुई है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** (१/४/१-४) में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जो कुछ भी सत्ता है उसका आधार लोकातीत सत् ही है। प्रपञ्चात्मक जगत् इसी सत् से उत्पन्न होता है।

इसी तरह विश्व का मूलतत्त्व जड़ है या चेतन इस प्रश्न को लेकर उपनिषदों में दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। एक ओर **बृहदारण्यकोपनिषद्** (२/४/१२) में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी से कहते हैं कि चेतना इन्हीं भूतों में से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाती है तो दूसरी ओर **छान्दोग्योपनिषद्** (६/२/१, ३) में कहा गया है कि पहले अकेला सत् (चित्त तत्त्व) ही था दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊँ और इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य की पुष्टि **तैत्तिरीयोपनिषद्** (२/६) से भी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में परस्पर विरोधी विचारधारायें प्रस्तुत की गयी हैं। यदि ये सभी विचारधारायें सत्य हैं तो इससे औपनिषदिक ऋषियों की अनेकान्त दृष्टि का ही परिचय मिलता है। यद्यपि ये सभी संकेत एकान्तवाद को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु विभिन्न एकान्तवादों की स्वीकृति में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है। अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि औपनिषदिक चिन्तन में विभिन्न एकान्तवादों को स्वीकार करने की अनैकान्तिक दृष्टि अवश्य थी। पुनः उपनिषदों में हमें ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जहाँ एकान्तवाद का निषेध किया गया है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** (३/८/८) में ऋषि कहता है कि 'वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं है और दीर्घ भी नहीं है।' इस प्रकार यहाँ हमें स्पष्टतया एकान्तवाद का निषेध प्राप्त होता है। एकान्त के निषेध के साथ-साथ सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की उपस्थिति के संकेत भी हमें

उपनिषदों में मिल जाते हैं। **तैत्तिरीयोपनिषद्** (२/६) में कहा गया है कि वह परम सत्ता मूर्त-अमूर्त, वाच्य-अवाच्य, विज्ञान (चेतन)-अविज्ञान (जड़), सत्-असत्, रूप है। इसी प्रकार **कठोपनिषद्** (१/२०) में उस परम सत्ता को अणु की अपेक्षा भी सूक्ष्म व महत् की अपेक्षा भी महान कहा गया है। यहाँ परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार करने का अर्थ अनेकान्त की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकता है? पुनः उसी उपनिषद् (३/१२) में एक ओर आत्मा को ज्ञान का विषय बताया गया है तो वहीं दूसरी ओर उसे ज्ञान का अविषय बताया गया है। जब इसकी व्याख्या का प्रश्न आया तो आचार्य शंकर को भी कहना पड़ा कि यहाँ अपेक्षा भेद से जो अज्ञेय है उसे ही सूक्ष्म ज्ञान का विषय बताया गया है। यही उपनिषदकारों का अनेकान्त है। इसी प्रकार **श्वेताश्वतरोपनिषद्** (१/७) में भी उस परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी सत्ता या परमतत्त्व की बहुआयामिता या अनैकान्तिकता स्पष्ट होती है। मात्र यही नहीं यहाँ परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक साथ स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि उपनिषदकारों की शैली अनेकान्तात्मक रही है। यहाँ हम देखते हैं कि उपनिषदों का दर्शन जैन दर्शन के समान ही सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकार करता प्रतीत होता है। मात्र यही नहीं उपनिषदों में परस्पर विरोधी मतवादों के समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषदकारों ने न केवल एकान्त का निषेध किया, अपितु सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकृति भी प्रदान की। जब औपनिषदिक ऋषियों को यह लगा होगा कि परमतत्त्व में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की एक ही साथ स्वीकृति तार्किक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं होगी तो उन्होंने उस परमतत्त्व को अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी मान लिया। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (२) में यह कहा गया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नहीं है और उसे मन के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता (**यतो वाचो निवर्तन्ते ।। अप्राप्य मनसा सह ।।**) इससे ऐसा लगता है कि उपनिषद् काल में सत्ता के सत्, असत्, उभय और अवक्तव्य/अनिर्वचनीय— ये चारों पक्ष स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु औपनिषदिक ऋषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने उन विरोधों के समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसका सबसे उत्तम प्रतिनिधित्व हमें **ईशावास्योपनिषद्** (४) में मिलता है। उसमें कहा गया है कि—

“अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनहेवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्”

अर्थात् वह गतिरहित है फिर भी मन से एवं देवों से तेज गति करता है।

“तदेजति तन्नेजति तदूरे तद्विन्तिके”, अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता

है, वह दूर भी है, वह पास भी है। इस प्रकार उपनिषदों में जहाँ विरोधी प्रतीत होने वाले अंश हैं, वहीं उनमें समन्वय को मुखरित करने वाले अंश भी प्राप्त होते हैं। परमसत्ता के एकत्व-अनेकत्व, जड़त्व-चेतनत्व आदि विविध आयामों में से किसी एक को स्वीकार कर उपनिषद् काल में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का उदय हुआ। जब ये दृष्टियाँ अपने-अपने मन्तव्यों को ही एकमात्र सत्य मानते हुए, दूसरे का निषेध करने लगीं तब सत्य के गवेषकों को एक ऐसी दृष्टि का विकास करना पड़ा जो सभी की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उन विरोधी विचारों का समन्वय कर सके। यह विकसित दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है जो वस्तु में प्रतीति के स्तर पर दिखाई देने वाले विरोध के अन्तस् में अविरोध को देखती है और सैद्धान्तिक द्वन्द्वों के निराकरण का एक व्यावहारिक एवं सार्थक समाधान प्रस्तुत करती है। इस प्रकार अनेकान्तवाद विरोधों के शमन का एक व्यावहारिक दर्शन है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास करता है।

ईशावास्य में पग-पग पर अनेकान्त जीवन दृष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं। वह अपने प्रथम श्लोक में ही “तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विन्नम्” कहकर त्याग एवं भोग-इन दो विरोधी तथ्यों का समन्वय करता है एवं एकान्त त्याग और एकान्त भोग दोनों को सम्यक् जीवन दृष्टि के लिए अस्वीकार करता है। जीवन न तो एकान्त त्याग पर चलता है और न एकान्त भोग पर, बल्कि जीवनयात्रा त्याग और भोगरूपी दोनों चक्रों के सहारे चलती है। इस प्रकार **ईशावास्य** सर्वप्रथम अनेकान्त की व्यावहारिक जीवनदृष्टि को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कर्म और अकर्म सम्बन्धी एकान्तिक विचारधाराओं में समन्वय करते हुए **ईशावास्य** (२) कहता है कि “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतौ समाः” अर्थात् मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीये। निहितार्थ यह है कि जो कर्म सामान्यतया सकाम या सप्रयोजन होते हैं वे बन्धनकारक होते हैं, किन्तु यदि कर्म निष्काम भाव से बिना किसी स्पृहा के हों तो उनसे मनुष्य लिप्त नहीं होता, अर्थात् वे बन्धन कारक नहीं होते। निष्काम कर्म की यह जीवन-दृष्टि व्यावहारिक जीवन-दृष्टि है। भेद-अभेद का व्यावहारिक दृष्टि से समन्वय करते हुए उसी में आगे कहा गया है -

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (ईशा० ६)

अर्थात् जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है वह किसी से भी घृणा नहीं करता। यहाँ जीवात्माओं में भेद एवं अभेद

दोनों को एक साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी ऋषि की अनेकान्तदृष्टि ही परिलक्षित होती है जो समन्वय के आधार पर पारस्परिक घृणा को समाप्त करने की बात कहती है।

एक अन्य स्थल पर विद्या (अध्यात्म) और अविद्या (विज्ञान) (ईशा० १०) में तथा सम्भूति (कार्यब्रह्म) एवं असम्भूति (कारणब्रह्म) (ईशा० १२) अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। ऋषि कहता है कि जो अविद्या की उपासना करता है वह अन्धकार में प्रवेश करता है और जो विद्या की उपासना करता है वह उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करता है (ईशा० ९) और वह जो दोनों को जानता है या दोनों का समन्वय करता है वह अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर विद्या से अमृत तत्त्व को प्राप्त करता है (ईशा० ११)। यहाँ विद्या और अविद्या अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान की परस्पर समन्वित साधना अनेकान्त दृष्टि के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करती है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्ता की बहु आयामिता और समन्वयवादी व्यावहारिक जीवन दृष्टि का अस्तित्व बुद्ध और महावीर से पूर्व उपनिषदों में भी था, जिसे अनेकान्त दर्शन का आधार माना जा सकता है।

सांख्य दर्शन और अनेकान्तवाद

भारतीय षड्दर्शनों में सांख्य एक प्राचीन दर्शन है। इसकी कुछ अवधारणाएँ हमें उपनिषदों में भी उपलब्ध होती हैं। यह भी जैन दर्शन के जीव एवं अजीव की तरह पुरुष एवं प्रकृति ऐसे दो मूल तत्त्व मानता है। उसमें पुरुष को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य माना गया है। इस प्रकार उसके द्वैतवाद में एक तत्त्व परिवर्तनशील है और दूसरा अपरिवर्तनशील। इसप्रकार सत्ता के दो पक्ष परस्पर विरोधी गुणधर्मों से युक्त हैं। फिर भी उनमें एक सह-सम्बन्ध है। पुनः यह कूटस्थ नित्यता भी उस मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में है, जो प्रकृति से अपनी पृथक्ता अनुभूत कर चुका है। सामान्य संसारी जीव/पुरुष में तो प्रकृति के संयोग से अपेक्षा भेद से नित्यत्व और परिणामित्व दोनों ही मान्य किये जा सकते हैं। पुनः प्रकृति तो जैन दर्शन के सत् के समान परिणामी नित्य मानी गई है अर्थात् उसमें परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों विरोधी गुणधर्म अपेक्षा भेद से रहे हुए हैं। पुनः त्रिगुण-सत्त्व, रजस् और तमस् परस्पर विरोधी हैं, फिर भी प्रकृति में वे तीनों एक साथ रहते हैं। सांख्य दर्शन का सत्त्वगुण स्थिति का, रजोगुण उत्पाद या क्रियाशीलता का, तमोगुण विनाश या निष्क्रियता का प्रतीक है। अतः मेरी दृष्टि में सांख्य का त्रिगुणात्मकता का सिद्धान्त और जैन दर्शन का उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मकता का सिद्धान्त एक दूसरे

से अधिक दूर नहीं हैं। सत्ता की बहु-आयामिता और परस्पर विरोधी गुणधर्मों की युगपद् अवस्थिति यही तो अनेकान्त है। द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता जैन दर्शन के समान सांख्य को भी मान्य है। पुनः प्रकृति और विकृति दोनों परस्पर विरोधी हैं, किन्तु सांख्य दर्शन में बुद्धि (महत्), अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ-प्रकृति और विकृति दोनों ही माने गये हैं। पुनः निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों परस्पर विरोधी हैं किन्तु सांख्य दर्शन में प्रकृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों गुण पाये जाते हैं। सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्त्यात्मक और मुक्त पुरुष की अपेक्षा से निवृत्त्यात्मक देखी जाती है। इसी प्रकार पुरुष में अपेक्षा भेद से भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व दोनों गुण देखे जाते हैं। यद्यपि मुक्त पुरुष कूटस्थ नित्य है फिर भी संसार दशा में उसमें कर्तृत्व गुण देखा जाता है, चाहे वह प्रकृति के निमित्त से ही क्यों नहीं हो। संसार दशा में पुरुष में ज्ञान-अज्ञान, कर्तृत्व-अकर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व के विरोधी गुण रहते हैं। सांख्य दर्शन की इस मान्यता का समर्थन महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में अनुगीता के ४७ वें अध्ययन के ७ वें श्लोक में मिलता है-उसमें लिखा है-

यो विद्वान्सहवासं च विवासं चैव पश्यति ।

तथैकैकत्वानानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते ॥

अर्थात् जो विद्वान् जड़ और चेतन के भेदाभेद को तथा एकत्व और नानात्व को देखता है वह दुःख से छूट जाता है। जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकान्तवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकती है। वस्तुतः सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति में आत्यन्तिक भेद माने बिना मुक्ति/कैवल्य की अवधारणा सिद्ध नहीं होगी, किन्तु दूसरी ओर उन दोनों में आत्यन्तिक अभेद मानेंगे तो संसार की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। संसार की व्याख्या के लिए उनमें आंशिक या सापेक्षिक अभेद और मुक्ति की व्याख्या के लिए उनमें सापेक्षिक भेद मानना भी आवश्यक है। पुनः प्रकृति और पुरुष को स्वतन्त्र तत्त्व मानकर भी किसी न किसी रूप में उसमें उन दोनों की पारस्परिक प्रभावकता तो मानी गई है। प्रकृति में जो विकार उत्पन्न होता है वह पुरुष का साविध्य पाकर ही होता है। इसी प्रकार चाहे हम बुद्धि (महत्) और अहंकार को प्रकृति का विकार मानें, किन्तु उनके चैतन्य रूप में प्रतिभाषित होने के लिए उनमें पुरुष का प्रतिबिम्बित होना तो आवश्यक है। चाहे सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति के आश्रित माने, फिर भी जड़ प्रकृति के प्रति तादात्म्य बुद्धि का कर्ता तो किसी न किसी रूप में पुरुष को स्वीकार करना होगा, क्योंकि जड़ प्रकृति के बन्धन और मुक्ति की अवधारणा तार्किक दृष्टि से सबल सिद्ध नहीं होती है।

वस्तुतः द्वैतवादी दर्शनों— चाहे वे सांख्य हों या जैन, की कठिनाई यह है कि उन में तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया—प्रतिक्रिया या आंशिक तादात्म्य माने बिना संसार और बन्धन की व्याख्या सम्भव नहीं होती है और दोनों को एक दूसरे से निरपेक्ष या स्वतंत्र माने बिना मुक्ति की अवधारणा सिद्ध नहीं होती है। अतः किसी न किसी स्तर पर उनमें अभेद और किसी न किसी स्तर पर उनमें भेद मानना आवश्यक है। यही भेदाभेद की दृष्टि ही अनेकान्त की आधार भूमि है, जिसे किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है। सांख्य दर्शन चाहे बुद्धि, अहंकार आदि को प्रकृति का विकार माने किन्तु संसारी पुरुष को उससे असम्पृक्त नहीं कहा जा सकता है। योगसूत्र साधनपाद के सूत्र २० के भाष्य में कहा गया है—

“स पुरुषो बुद्धेः प्रति संवेदी सबुद्धेर्नस्वरूपो नात्यन्त विरूप इति। न तावत्स्वरूपः कस्मात् ज्ञाता-ज्ञात विषयत्वात्-अस्तुतर्हि विरूप इति नात्यन्त विरूपः, कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति।”

अतः प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्व होकर भी उनमें पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया घटित होती है। उन दो तत्त्वों के बीच भेदाभेद यहीं बन्धन और मुक्ति की व्याख्याओं का आधार है।

योग दर्शन और अनेकान्तवाद

जैन दर्शन में द्रव्य और गुण या पर्याय, दूसरे शब्दों में धर्म और धर्मों में एकान्त भेद या एकान्त अभेद को स्वीकार नहीं करके उनमें भेदाभेद स्वीकार करता है और यही उसके अनेकान्तवाद का आधार है। यही दृष्टिकोण हमें योगसूत्र भाष्य में भी मिलता है—

“न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वान ते लक्षिता अलक्षिताश्च तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तो ऽन्यत्वेन प्रति निर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यानन्तरतः । यथैक रेखा शत स्थाने शतं दश स्थाने दशैक चैकस्थाने। यथाचैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसाचेति।”

योगसूत्र विभूतिपाद १३ का भाष्य इसी तथ्य को उसमें इस प्रकार भी प्रकट किया गया है— “यथा सुवर्ण भाजनस्य भित्त्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वम्” इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक ही स्त्री अपेक्षा भेद से माता, पुत्री अथवा सास कहलाती है उसी प्रकार एक ही द्रव्य अवस्थान्तर को प्राप्त होकर भी वहीं रहता है। एक स्वर्णपात्र को तोड़कर जब कोई अन्य वस्तु बनाई जाती है तो उसकी अवस्था बदलती है किन्तु स्वर्ण वही रहता है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा वह वही रहता है अर्थात् नहीं बदलता है, किन्तु अवस्था बदलती है। यही सत्ता का नित्यानित्यत्व या भेदाभेद है जो जैन दर्शन में अनेकान्तवाद

का आधार है। इस भेदाभेद को आचार्य वाचस्पति मिश्र इसी स्थल की टीका में स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखते हैं -

“अनुभव एव ही धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदौ व्यवस्थापयन्ति ।”

मात्र इतना ही नहीं, वाचस्पति मिश्र तो स्पष्ट रूप से एकान्तवाद का निरसन करके अनेकान्तवाद की स्थापना करते हैं। वे लिखते हैं-

नह्यैकान्तिकेऽभेद धर्मादीनां धर्मिणो, धर्मरूपवद् धर्मादित्वं नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्चवद् धर्मादित्वं स चानुभवोऽनेकान्तिकत्वमवस्थापयन्नपि धर्मादिषूपजनापाय धर्मकेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्माश्च परस्परतो व्यवर्तयन् प्रत्यात्ममनु भूयत इति।

एकान्त का निषेध और अनेकान्त की पुष्टि का योग दर्शन में इससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं हो सकता है। योग दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही सत्ता को सामान्य विशेषात्मक मानता है। **योगसूत्र** के समाधिपाद का सूत्र ७ इसकी पुष्टि करता है-

सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य ।

इसी बात को किञ्चित् शब्द भेद के साथ विभूतिपाद के सूत्र ४४ में भी कहा गया है-

सामान्य विशेष समुदायोऽत्र द्रव्यम् ।

मात्र इतना ही नहीं, योगदर्शन में द्रव्य की नित्यता-अनित्यता को उसी रूप में स्वीकार किया गया है, जिस रूप में अनेकान्त दर्शन में। **महाभाष्य** के पंचममाह्निक में प्रतिपादित है-

द्रव्यनित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्णं कयाचिदाकृत्यायुक्तं पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृष्ट रूचकाः क्रियन्ते, रूचकाकृतिमुपमृष्ट कटकाः क्रियन्ते आकृतिरन्याचान्याभवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमृष्टेन द्रव्यमेवावशिष्यते ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य और योग दर्शन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकान्त दृष्टि अनुस्यूत है।

वैशेषिक दर्शन और अनेकान्त

वैशेषिक दर्शन में जैन दर्शन के समान ही प्रारम्भ में तीन पदार्थों की कल्पना की गई, वे हैं द्रव्य, गुण और कर्म, जिन्हें हम जैन दर्शन के द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं। यद्यपि वैशेषिक दर्शन भेदवादी दृष्टि से इन्हें एक दूसरे से स्वतन्त्र मानता है फिर भी उसे इनमें आश्रय आश्रयी भाव तो स्वीकार करना ही पड़ा है। ज्ञातव्य है कि जहाँ आश्रय-आश्रयी भाव होता है, वहाँ उनमें कथंचित् या सापेक्षिक

सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है, उन्हें एक से दूसरे पूर्णतः निरपेक्ष या स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है। चाहे वैशेषिक दर्शन उन्हें एक दूसरे से स्वतन्त्र कहे, फिर भी वे असम्बद्ध नहीं हैं। अनुभूति के स्तर पर द्रव्य से पृथक् गुण और द्रव्य एवं गुण से पृथक् कर्म नहीं होते हैं। यही उनका भेदाभेद है, अनेकान्त है।

पुनः वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष नामक दो स्वतंत्र पदार्थ माने गये हैं। पुनः उनमें भी सामान्य के दो भेद किये — परसामान्य और अपरसामान्य । परसामान्य को ही सत्ता भी कहा गया है, वह शुद्ध अस्तित्व है, सामान्य है किन्तु जो अपर सामान्य है वह सामान्य विशेष रूप है। द्रव्य, गुण और कर्म अपरसामान्य हैं और अपरसामान्य होने से सामान्य विशेष उभय रूप है। **वैशेषिक सूत्र (१/२/५)** में कहा भी गया है—

“द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च”

द्रव्य, गुण और कर्म को युगपद् सामान्य विशेष-उभय रूप मानना यही तो अनेकान्त है । द्रव्य किस प्रकार सामान्य विशेषात्मक है, इसे स्पष्ट करते हुए **वैशेषिकसूत्र (१/२/३)** में कहा गया है—

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ।

सामान्य और विशेष-दोनों ज्ञान, बुद्धि या विचार की अपेक्षा से हैं। इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार प्रशस्त-पाद कहते हैं—

द्रव्यत्वं पृथ्वीत्वापेक्षया सामान्यं सत्तापेक्षया च विशेष इति ।

द्रव्यत्व पृथ्वी नामक द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य है और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। दूसरे शब्दों में एक ही वस्तु अपेक्षा भेद से सामान्य और विशेष दोनों ही कही जा सकती है। अपेक्षा भेद से वस्तु में विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों को स्वीकार करना- यही तो अनेकान्त है। उपस्कार कर्ता ने तो स्पष्टतः कहा है “सामान्यं विशेष संज्ञामपिलभते।” अर्थात् वस्तु केवल सामान्य अथवा केवल विशेष रूप में होकर सामान्य विशेष रूप है और इसी तथ्य में अनेकान्त की प्रस्थापना है।

पुनः वस्तु सत् असत् रूप है इस तथ्य को भी कणाद महर्षि ने अन्योन्याभाव के प्रसंग में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

सच्चासत् । यच्चान्यदसदतस्तदसत् — वैशेषिक सूत्र (१/१/४-५)

इसकी व्याख्या में उपस्कारकर्ता ने जैन दर्शन के समान ही कहा है—

यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवहियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवति हि असन्नश्चो गवात्मना-असन् गौरश्चात्मना-असन् पटो घटात्मना इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा से अस्ति रूप है और पर स्वरूप की अपेक्षा नास्ति रूप है। वस्तु में स्व की सत्ता की स्वीकृति और पर की सत्ता का अभाव मानना यही तो अनेकान्त है जो वैशेषिको भी मान्य है। अस्तित्व नास्तित्व पूर्वक और नास्तित्व अस्तित्व पूर्वक है।

न्यायदर्शन और अनेकान्तवाद

न्यायदर्शन में न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन ने न्यायसूत्र (१/१/४१) के भाष्य में अनेकान्तवाद का आश्रय लिया है। वे लिखते हैं—

एतच्च विरुद्धयोरेक धर्मिस्थयोर्बोधव्यं, यत्र तु धर्मो सामान्यगतो विरुद्धो धर्मो हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्तेः इत्यादि अर्थात् जब एक ही धर्मों में विरुद्ध अनेक धर्म विद्यमान हों तो विचार पूर्वक ही निर्णय लिया जाता है, किन्तु जहाँ धर्मों सामान्य में (अनेक) धर्मों की सत्ता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो, वहाँ पर तो उसे समुच्चय रूप अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त ही मानना चाहिये। क्योंकि वहाँ पर तो वस्तु उसी रूप में सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि यदि दो धर्मों में आत्यन्तिक विरोध नहीं है और वे सामान्य रूप से एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से पाये जाते हैं तो उन्हें स्वीकार करने में न्याय दर्शन को आपत्ति नहीं है।

इसी प्रकार जाति और व्यक्ति में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद मानकर जाति को भी सामान्य-विशेषात्मक माना गया है। भाष्यकार वात्स्यायन न्यायसूत्र (२/२/६६) की टीका में लिखते हैं—

यच्च केषांचिद् भेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्यविशेषो जातिरिति ।

यह सत्य है कि जाति सामान्य रूप भी है, किन्तु जब यह पदार्थों में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद करती है तो वह जाति सामान्य-विशेषात्मक होती है। यहाँ जाति को जो सामान्य की वाचक है सामान्य-विशेषात्मक मानकर अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है। क्योंकि अनेकान्तवाद व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि का अन्तर्भाव मानता है। व्यक्ति के बिना जाति की और जाति के बिना व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है उनमें कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। सामान्य में विशेष और विशेष में सामान्य अपेक्षा भेद से निहित रहते हैं, यही तो अनेकान्त है।

सत्ता सत्-असत् रूप है यह बात भी न्याय दर्शन में कार्य-कारण की व्याख्या के प्रसंग में प्रकारान्तर से स्वीकृत है। पूर्व पक्ष के रूप में न्यायसूत्र (४/१/४८) में यह कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को न तो सत् कहा जा सकता है, न असत् ही कहा जा सकता है और न उभय रूप ही कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों

में वैधर्म्य है—

नासन्न सन्नसदसत् सदसतोवैधर्म्यात् ।

इसका उत्तर टीका में विस्तार से दिया गया है। किन्तु हम विस्तार में न जा कर संक्षेप में उनके उत्तरपक्ष को प्रस्तुत करेंगे। उनका कहना है कि कार्य-उत्पत्ति पूर्व कारण रूप से सत् है क्योंकि कारण के असत् होने से कोई उत्पत्ति ही नहीं होगी। पुनः कार्य रूप से वह असत् भी है क्योंकि यदि सत् होता है तो फिर उत्पत्ति का क्या अर्थ होता ? अतः उत्पत्ति पूर्व कार्य कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् अर्थात् सत्-असत् उभय रूप है यह बात बुद्धिसिद्ध है {विस्तृत विवेचना के लिए देखें न्यायसूत्र (४/१/४८-५०) की वैदिकमुनि हरिप्रसाद स्वामी की टीका}

मीमांसा दर्शन और अनेकान्तवाद- जिस प्रकार अनेकान्तवाद के सम्पोषक जैन धर्म में वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है, उसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी सत्ता को त्रयात्मक माना है। उसके अनुसार उत्पत्ति और विनाश तो धर्मों के हैं, धर्मों तो नित्य हैं, वह उन धर्मों की उत्पत्ति और विनाश के भी पूर्व है अर्थात् नित्य है। वस्तुतः जो बात जैन दर्शन में द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता की अपेक्षा से कही गई है, वही बात धर्मों और धर्म की अपेक्षा से मीमांसा दर्शन में कही गई है। यहाँ पर्याय के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं कुमारिल भट्ट मीमांसाश्लोकवार्तिक (२१-२३) में लिखते हैं—

वर्द्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा ।

तदा पूर्वार्थिन शोकः प्रीतिश्चाभ्युत्तरार्थिनः ॥

हेमर्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ।

नोत्पादस्थितिभंगानामभावै स्यान्मतित्रयम् ॥

न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन विना सुखं ।

स्थित्या विना न माध्यस्थ्यम् तेन सामान्यनित्यता ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी की जो स्थापना जैन दर्शन में है वही बात शब्दान्तर से उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के रूप में मीमांसा दर्शन में कही गई है। कुमारिल भट्ट के द्वारा पदार्थ को उत्पत्ति, विनाश और स्थिति युक्त मानना, अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्य इसी बात को पुष्ट करते हैं कि उनके दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकान्त के तत्त्व उपस्थित रहे हैं।

श्लोकवार्तिक वनवाद श्लोक ७५-८० में तो वे स्वयं अनेकान्त की प्रमाणता सिद्ध करते हैं—

वस्त्वनेकत्ववादाच्च न सन्दिग्धा ऽप्रमाणता ।
 ज्ञानं सन्दिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता ॥
 इहानैकान्तिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम् ।

इसी अंश की टीका में पार्थसारथी मिश्र ने भी स्पष्टतः अनेकान्तवाद शब्द का प्रयोग किया है यथा—

ये चैकान्तिकं भेदमभेदं वाऽवयविनः समाश्रयन्ते तैरेवायमनेकांतवादः ।

मात्र इतना ही नहीं, उसमें वस्तु को स्व-स्वरूप की अपेक्षा सत् पर स्वरूप की अपेक्षा असत् और उभयरूप से सदसत् रूप माना गया है यथा—

सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा घटो घटरूपेण सत् पटरूपेण ऽसत् ।

- अभावप्रकरण टीका

यहाँ तो हमने कुछ ही सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं यदि भारतीय दर्शनों के मूलग्रन्थों और उनकी टीकाओं का सम्यक् परिशीलन किया जाये तो ऐसे अनेक तथ्य परिलक्षित होंगे जो उन दर्शनों की पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकान्त दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। अनेकान्त एक अनुभूत्यात्मक सत्य है उसे नकारा नहीं जा सकता है। अन्तर मात्र उसके प्रस्तुतीकरण की शैली का होता है।

वेदान्तदर्शन और अनेकान्तवाद

भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन वस्तुतः एक दर्शन का नहीं, अपितु दर्शन समूह का वाचक है। ब्रह्मसूत्र को केन्द्र में रखकर जिन दर्शनों का विकास हुआ वे सभी इस वर्ग में समाहित किये जाते हैं। इसके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। नैकस्मिन्न संभवात् (ब्रह्मसूत्र २/२/३३) की व्याख्या करते हुए इन सभी दार्शनिकों ने जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की समीक्षा की है। मैं यहाँ उनकी समीक्षा कितनी उचित है या अनुचित है इस चर्चा में नहीं जाना चाहता हूँ, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने कमोवेश रूप में शंकर का ही अनुसरण किया है। यहाँ मेरा प्रयोजन मात्र यह दिखाना है कि वे अपने मन्तव्यों की पुष्टि में किस प्रकार अनेकान्तवाद का सहारा लेते हैं।

आचार्य शंकर को सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में स्वयं ही प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति रूप दो परस्पर विरोधी गुण स्वीकार है। ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य २/२/४ में वे स्वयं ही लिखते हैं—

ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वात् महामायत्वाच्च प्रवृत्यप्रवृत्ती न विरूध्यते ।

पुनः माया को न ब्रह्म से पृथक् कहा जा सकता है और न अपृथक्; क्योंकि पृथक् मानने पर अद्वैत खण्डित होता है और अपृथक् मानने पर ब्रह्म माया के कारण

विकारी सिद्ध होता है। पुनः माया को न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि माया असत् है तो सृष्टि कैसे होगी और यदि माया सत् है तो मुक्ति कैसे होगी? वस्तुतः माया न सत् है और न असत्, न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न। यहाँ अनेकान्तवाद जिस बात को विधि मुख से कह रहा है शंकर उसे ही निषेधमुख से कह रहे हैं। अद्वैतवाद की कठिनाई यही है वह माया की स्वीकृति के बिना जगत् की व्याख्या नहीं कर सकता है और माया को सर्वथा असत् या सर्वथा सत् अथवा ब्रह्म से सर्वथा भिन्न या सर्वथा भिन्न ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वह परमार्थ के स्तर पर असत् और व्यवहार के स्तर पर सत् है। यहीं तो उनके दर्शन की पृष्ठभूमि में अनेकान्त का दर्शन होता है। शंकर इन्हीं कठिनाईयों से बचने हेतु माया को जब अनिर्वचनीय कहते हैं, तो वे किसी न किसी रूप में अनेकान्तवाद को ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त भी ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखने वाले अनेक आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं में अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किया है। महामति भास्कराचार्य ब्रह्मसूत्र के 'तत्तु समन्वयात्' (१/१/४) सूत्र की टीका में लिखते हैं—

यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते अनिरूपित प्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्। अतोभिन्नाभिन्न रूपं ब्रह्मेतिस्थितम्
संग्रह श्लोक—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना ।

हेमात्मना यथाऽभेद कुण्डलाद्यात्मनाभिदा ।। (पृ० १६-१७)

यद्यपि यह कहा जाता है कि भेद-अभेद में विरोध ही, किन्तु यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जो प्रमाण प्रमेय तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है।

इस कथन के पश्चात् अनेक तर्कों से भेदाभेद का समर्थन करते हुए अन्त में कह देते हैं कि अतः ब्रह्म भिन्नाभिन्न रूप से स्थित है यह सिद्ध हो गया। कारण रूप में वह अभेद रूप है और कार्य रूप में वह नाना रूप है, जैसे स्वर्ण कारण रूप में एक है, किन्तु कुण्डल आदि कार्यरूप में अनेक।

यह कथन भास्कराचार्य को प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद का सम्पोषक ही सिद्ध करता है। अन्यत्र भी भेदाभेद रूपं ब्रह्मेति समधिगतं (२/१/२२ टीका पृ. १६४) कहकर उन्होंने अनेकान्तदृष्टि का ही पोषण किया है।

भास्कराचार्य के समान यतिप्रवर विज्ञानभिक्षु ने ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृत भाष्य लिखा है। उसमें वे अपने भेदाभेदवाद का न केवल पोषण करते हैं, अपितु अपने

मत की पुष्टि में कूर्मपुराण, नारदपुराण, स्कन्दपुराण आदि से सन्दर्भ भी प्रस्तुत करते हैं यथा—

त एते भगवद्भूषं विश्वं सदसदात्मकम् । - पृ० १११

चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्योमादि सकलं जगत् ।

असत्यं सत्यरूपं तु कुम्भकुण्डाद्यपेक्षयोः । - पृ० ६३

ये सभी सन्दर्भ अनेकान्त के सम्पोषक हैं यह तो स्वतः सिद्ध है।

इसी प्रकार निम्बार्काचार्य ने भी अपनी ब्रह्मसूत्र की वेदान्त पारिजात सौरभ नामक टीका में तत्तुसमन्वयात् (१/१/४) की टीका करते हुए पृ. २ पर लिखा है—

सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय इति ।

शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक आचार्य वल्लभ भी ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य (पृ. ११५) में लिखते हैं —

सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधिव ।

अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च ।।

विरुद्ध सर्वधर्माणां आश्रयं युक्त्यगोचरं ।

अर्थात् वह अनन्तमूर्ति ब्रह्म कूटस्थ भी है और चल (परिवर्तनशील) भी है, उसमें सभी वादों के लिए अवसर (स्थान) है, वह अनेक वादों का अनुरोधी है, सभी विरोधी धर्मों का आश्रय है और युक्ति से अगोचर है।

यहाँ रामानुजाचार्य जो बात ब्रह्म के सम्बन्ध में कह रहे हैं, प्रकारान्तर से अनेकान्तवादी जैनदर्शन तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल वेदान्त में भी अपितु ब्राह्मण परम्परा में मान्य छहों दर्शनों के दार्शनिक चिन्तन में अनेकान्तवादी दृष्टि अनुस्यूत है।

श्रमण परम्परा का दार्शनिक चिन्तन और अनेकान्त

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में श्रमण परम्परा के दर्शन न केवल प्राचीन हैं, अपितु वैचारिक उदारता अर्थात् अनेकान्त के सम्पोषक भी रहे हैं। वस्तुतः भारतीय श्रमण परम्परा का अस्तित्व औपनिषदिक काल से भी प्राचीन है, उपनिषदों में श्रमणधारा और वैदिकधारा का समन्वय देखा जा सकता है। उपनिषद्-काल में दार्शनिक चिन्तन की विविध धाराएँ अस्तित्व में आ गई थीं, अतः उस युग के चिन्तकों के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि इनके एकांगी दृष्टिकोणों का निराकरण कर इनमें समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जाये। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष तीन विचारक आते हैं— संजय वेलङ्गीपुत्र, गौतमबुद्ध और वर्द्धमान महावीर ।

संजय वेलट्टीपुत्त और अनेकान्त

संजय वेलट्टीपुत्त बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों में एक थे। उन्हें अनेकान्तवाद सम्प्रोषक इस अर्थ में माना जा सकता है कि वे एकान्तवादों का निरसन करते थे। उनके मन्तव्य का निर्देश बौद्धग्रन्थों में इस रूप में पाया जाता है—

- (१) है? नहीं कहा जा सकता।
- (२) नहीं है? नहीं कहा जा सकता।
- (३) है भी और नहीं भी? नहीं कहा जा सकता।
- (४) न है और न नहीं है? नहीं कहा जा सकता।

इस सन्दर्भ से यह फलित है कि वे किसी भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। एकान्तवाद का निरसन अनेकान्तवाद का प्रथम आधार बिन्दु है और इस अर्थ में उन्हें अनेकान्तवाद के प्रथम चरण का सम्प्रोषक माना जा सकता है। यही कारण रहा होगा कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान किया कि संजय वेलट्टीपुत्त के दर्शन के आधार पर जैनों ने स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) का विकास किया। किन्तु मेरी दृष्टि में उनका यह प्रस्तुतीकरण वस्तुतः उपनिषदों के सत्, असत्, उभय (सत्-असत्) और अनुभय का ही निषेध रूप से प्रस्तुतीकरण है। इसमें एकान्त का निरसन तो है, किन्तु अनेकान्त स्थापना नहीं है। संजय वेलट्टीपुत्त की यह चतुर्भंगी किसी रूप में बुद्ध के एकान्तवाद के निरसन की पूर्वपीठिका है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन और अनेकान्तवाद

भगवान् बुद्ध का मुख्य लक्ष्य अपने युग के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों का निरसन करना था, अतः उन्होंने विभज्यवाद को अपनाया। विभज्यवाद प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद का ही पूर्व रूप है। बुद्ध और महावीर दोनों ही विभज्यवादी थे। **सुत्रकृतांग** (१/१/४/२२) में भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करें (**विभज्जवायं वागरेज्जा**) अर्थात् किसी भी प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर नहीं दें। बुद्ध स्वयं अपने को विभज्यवादी कहते थे। विभज्यवाद का तात्पर्य है प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक सापेक्ष उत्तर देना। **अंगुत्तरनिकाय** में किसी प्रश्न का उत्तर देने की चार शैलियाँ वर्णित हैं— (१) एकांशवाद अर्थात् सापेक्षिक उत्तर देना (२) विभज्यवाद अर्थात् प्रश्न का विश्लेषण करके सापेक्षिक उत्तर देना (३) प्रतिप्रश्न पूर्वक उत्तर देना और (४) मौन रह जाना (स्थापनीय) अर्थात् जब उत्तर देने में एकान्त का आश्रय लेना पड़े वहाँ मौन रह जाना। हम देखते हैं कि एकान्त से बचने के लिए बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया या फिर विभज्यवाद को अपनाया। उनका मुख्य लक्ष्य यही रहा कि परम तत्त्व या सत्ता के सम्बन्ध में

शाश्वतवाद, उच्छेदवाद जैसी परस्पर विरोधी विचारधाराओं में से किसी को स्वीकार नहीं करना। त्रिपिटक में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध ने एकान्तवाद का निरसन किया है। जब उनसे पूछा गया- क्या आत्मा और शरीर अभिन्न हैं? वे कहते हैं मैं ऐसा नहीं कहता, फिर जब यह पूछा गया- क्या आत्मा और शरीर भिन्नाभिन्न हैं, उन्होंने कहा मैं ऐसा भी नहीं कहता हूँ। पुनः जब यह पूछा गया है कि आत्मा और शरीर अभिन्न है तो उन्होंने कहा कि मैं ऐसा भी नहीं कहता हूँ। जब उनसे यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? तो उन्होंने अनेकान्त शैली में कहा कि यदि गृहस्थ और त्यागी मिथ्यावादी हैं तो वे आराधक नहीं हो सकते यदि दोनों सम्यक् आचरण करने वाले हैं तो वे आराधक हो सकते हैं (मज्झिमनिकाय १९)। इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने पूछा, भगवन् सोना अच्छा है या जागना? तो उन्होंने कहा कुछ का सोना अच्छा है और कुछ का जागना, पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्मा का जागना। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक बौद्धधर्म एवं जैनधर्म में एकान्तवाद का निरसन और विभज्यवाद के रूप में अनेकान्तदृष्टि का समर्थन देखा जाता है।

स्याद्वाद और शून्यवाद

यदि बुद्ध और महावीर के दृष्टिकोण में कोई अन्तर देखा जाता है तो वह यही कि बुद्ध ने एकान्तवाद के निरसन पर अधिक बल दिया। उन्होंने या तो मौन रहकर या फिर विभज्यवाद की शैली को अपनाकर एकान्तवाद से बचने का प्रयास किया। बुद्ध की शैली प्रायः एकान्तवाद के निरसन या निषेधपरक रही, परिणामतः उनके दर्शन का विकास शून्यवाद में हुआ, जबकि महावीर की शैली विधानपरक रही अतः उनके दर्शन का विकास अनेकान्त या स्याद्वाद में हुआ।

इसी बात को प्रकारान्तर से माध्यमिक कारिका (२/३) में इस प्रकार भी कहा गया है—

न सद् नासद् न सदसत् न चानुभयात्मकम् ।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥

अर्थात् परमतत्त्व न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् है और न सत्-असत् दोनों नहीं है।

यही बात प्रकारान्तर से विधिमुख शैली में जैनाचार्यों ने भी कही है—

यदेवतत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं, यदेवसत् तदेवासत्, यदेवनित्यं तदेवानित्यम् ।

अर्थात् जो तत् रूप है, वही अतत् रूप भी है, जो एक है, वही अनेक भी है, जो सत् है, वही असत् भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है।

उपरोक्त प्रतिपादनों में निषेधमुख शैली और विधिमुख शैली का अन्तर अवश्य है, किन्तु तात्पर्य में इतना अन्तर नहीं है, जितना समझा जाता है।

एकान्तवाद का निरसन दोनों का उद्देश्य है।

शून्यवाद और स्याद्वाद में भौतिक भेद निषेधात्मक और विधानात्मक शैली का है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही देखते हैं। किन्तु जहाँ शून्यवादी उस एकान्त के दोष के भय से उसे अस्वीकार कर देता है, वहाँ अनेकान्तवादी उसके आगे स्यात् शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करता है।

शून्यवाद तत्त्व को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य कहता है तो स्याद्वाद उसे अनन्तधर्मात्मक कहता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि शून्य और अनन्त का गणित एक ही जैसा है। शून्यवाद जिसे परमार्थसत्य और लोकसंवृत्तिसत्य कहता है उसे जैन दर्शन निश्चय और व्यवहार कहता है। तात्पर्य यह है कि अनेकान्तवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ समरूपता है।

उपसंहार :

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि समग्र भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनेकान्तिक दृष्टि रही हुई है। चाहे उन्होंने अनेकान्त के सिद्धान्त को उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में ग्रहण न कर उसकी खुलकर समालोचना की हो। वस्तुतः अनेकान्त एक सिद्धान्त नहीं, एक पद्धति (Methodology) है और फिर चाहे कोई भी दर्शन हो 'बहुआयामी परमतत्त्व' की अभिव्यक्ति के लिए उसे इस पद्धति को स्वीकार करना ही होता है। चाहे हम सत्ता को निरपेक्ष मानों और यह भी मान लें कि उस निरपेक्ष तत्त्व की अनुभूति भी सम्भव है, किन्तु निरपेक्ष अभिव्यक्ति तो सम्भव नहीं है। निरपेक्ष अनुभूति की अभिव्यक्ति का जब भी भाषा के माध्यम से कोई प्रयत्न किया जाता है, वह सीमित और सापेक्ष बन कर रह जाती है। अनन्तधर्मात्मक परमतत्त्व की अभिव्यक्ति का जो भी प्रयत्न होगा वह तो सीमित और सापेक्ष ही होगा। एक सामान्य वस्तु का चित्र भी जब बिना किसी कोण के लेना सम्भव नहीं है तो फिर उस अनन्त और अनिर्वचनीय के निर्वचन का दार्शनिक प्रयत्न अनेकान्त की पद्धति को अपनाये बिना कैसे सम्भव है। यही कारण है कि चाहे कोई भी दर्शन हो, उसकी प्रस्थापना के प्रयत्न में अनेकान्त की भूमिका अवश्य निहित है और यही कारण है कि सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनेकान्त का दर्शन रहा है।

सभी भारतीय किसी न किसी रूप में अनेकान्त को स्वीकृति देते हैं इस तथ्य

का निर्देश उपाध्याय यशोविजय जी ने अध्यात्मोपनिषद् (१/४५-४९) में किया है, हम प्रस्तुत आलेख का उपसंहार उन्हीं के शब्दों में करेंगे—

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिक वदन् ।
 योगोदैशेषिको वापि नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ॥
 विज्ञानस्यमैकाकारं नानाकारं करंबितम् ।
 इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ॥
 जातिवाक्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम् ।
 भाट्टो वा मुरारिर्वा नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ॥
 अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः ।
 ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ।
 ब्रुवाणो भिन्न-भिन्नार्थन् नयभेद व्यपेक्षया ।
 प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकं ॥

